इसी का दूसरा विकल्प उसने इस प्रकार प्रस्तुत किया कि हम जो बात किसी के बारे में कह रहे हैं उसको वैसा ही रखें और जिसके बारे में कह रहे हैं उसमें परिवर्तन करते जायें। ऐसा करने पर हमें एक बिन्दु पर ऐसा लगेगा कि अब हम जिसके बारे में जो बात कह रहे हैं वह पहले सार्थक लगती थी पर अब वह निरर्थक लगने लगी है। इसका उदाहरण हम उसी तरह बना सकते हैं जैसा कि पहले बनाया था। हमने कहा था 'गुलाब का फूल लाल है' और फिर 'लाल' में परिवर्तन किया था। अब हम लाल होने को रख लेते हैं और जिन चीज़ों के बारे में हम यह कहते हैं कि वे लाल हैं उनमें सतत् परिवर्तन करते हैं। ऐसा परिवर्तन करने पर हमारे सामने कुछ उदाहरण ऐसे ज़रूर आयेंगे जिनके बारे में हमें ऐसा लगेगा कि यहाँ इनके संदर्भ में यह कहना कि ये लाल हैं या लाल नहीं हैं, दोनों निरर्थक हैं। जैसे, अगर कोई कहे कि 'कागज़ लाल है' तो इसकी अर्थवत्ता के बारे में किसी के सामने कोई सवाल कभी नहीं उठेगा। लेकिन अगर कोई यह कहे कि 'ईमानदारी लाल है' तो इसे कोई भी अर्थवान् मानने के लिए तैयार नहीं होगा।

अब हम राइल के दोनों विकल्पों को एक साथ लें तो राइल के कथन को इस प्रकार समझ सकते हैं कि जैसे ही हम किसी भी विशिष्ट गुण की बात करते हैं तो एकदम संसार दो भागों में विभक्त हो जाता है, एक उन वस्तुओं का जिनके संदर्भ में यह कहना कि उनमें यह विशिष्ट गुण पाया जाता है या नहीं पाया जाता है, सार्थक है। इसके विपरीत वे सब वस्तुएँ हैं जिनके बारे में यह कहना कि उनमें वह गुण विद्यमान है, या विद्यमान नहीं है, पूर्ण रूप से अर्थ-हीन है। इसी प्रकार किसी भी वस्तु को लें तो उसके संदर्भ में गुण भी सापेक्ष होने लगते हैं औस्अपने को दो भागों में बाँट लेते हैं। एक वह जो अपने वाचक शब्दों के द्वारा निर्मित वाक्यों को सार्थक बनाते हैं और दूसरे वे जो उनको अर्थ-शून्य बना देते हैं। दोनों हालतों में दूसरी तरह के वाक्य वास्तव में वाक्य हैं ही नहीं, केवल वाक्य का 'मुखौटा' पहनकर सबको धोखा देते हैं। दार्शनिक भी हज़ारों सालों से इन वाक्यों के धोखे में आकर दार्शनिक उलझनों के जाल में फँसते रहे हैं और उन उलझनों को सुलझाने की प्रक्रिया को 'दर्शन' का नाम देते रहे हैं।

दार्शनिकों के तर्कों के कुछ उदाहरण हमने ऊपर दिये हैं। इनके अलावा और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अगर कोई इनकी नब्ज़ एक बार पहचान ले तो स्वयं इनको पहचान सकता है, इनका पता लगा सकता है। लेकिन इनका वास्तव में स्वरूप क्या है, ये कैसे उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को किन-किन बौद्धिक उलझनों में डालते हैं, इसका ब्यौरा देना मुश्किल है। लेकिन शायद दर्शन का 'स्वरूप' ही यह है कि वह इस प्रकार की तर्क-बुद्धि से उत्पन्न होता है और इनको सुलझाने में ही अपने को सार्थक मानता है। ❑

पश्चिमी दर्शन के दो परस्पर विरोधी मूल स्रोत : ग्रीस का बुद्धि केन्द्रित चिन्तन और ईसाई धर्म की आस्था केन्द्रित मान्यताएँ

दर्शन का इतिहास दो भिन्न धाराओं में बँटा प्रतीत होता है। एक वह जो ग्रीस से शुरू होकर आधुनिक पश्चिमी राष्ट्रों और उनसे प्रभावित क्षेत्रों में फैली है और दूसरी जो वेद और उपनिषदों से शुरू होकर भारत की भूमि में आज भी किसी हद तक विद्यमान है। इन दो प्रमुख धाराओं के अलावा एक अन्य धारा भी दृष्टिगोचर होती है जिसके प्रवर्तक कन्फ्यूशिस और लाओत्से समझे जाते हैं। परन्तु इस तीसरी धारा का इतना बलवती न होना इसके बौद्धिक चिन्तन का वह रूप है जिसके आधार पर आज दर्शन की परिभाषा दी जाती है। किसी विशिष्ट परम्परा के होने के लिए यह आवश्यक है कि उसके मूल में कोई ऐसी महान् और समग्र दृष्टि हो जो उसको निरन्तर सींचती रहे और कम से कम संस्कृति के क्षेत्र में यह भी इतना ही आवश्यक है कि उस परम्परा का अन्य परम्पराओं से कोई अधिक गहरा सम्बन्ध न रहा है। वैशिष्ट्य के लिए इस प्रकार दो चीजों की आवश्यकता होती है। एक परम्परा, दूसरी अलगाव। आज के युग में संस्कृतियाँ एक-दूसरे के सम्मुख खड़ी हैं और जहाँ वे कुछ एक-दूसरे में समान बातें पाती हैं, वहाँ उनको एक दूसरे के वैशिष्ट्य पर भी आश्चर्य होता है।

पश्चिमी दार्शनिक परम्परा का मूल स्रोत एजियन समुद्र के किनारे के वे द्वीप हैं, जो 'एजियन आइलैण्ड्स' के नाम से पुकारे जाते हैं और उसकी मूल दृष्टि उस बौद्धिक अनुभूति में है जो गणित के ज्ञान को आदर्श के रूप में देखती है। गणित को ज्ञान का आदर्श इसलिए माना जाता है कि उसके निष्कर्ष पूर्णतया असंदिग्ध और, इसीलिए, सार्वभौम होते हैं। इसके साथ ही साथ वे शुद्ध बुद्धि ग्राह्य हैं और जो इन्द्रियों से ज्ञात जगत् है उस पर अनिवार्यत: लागू होते हैं। गणित की इन चार विशेषताओं ने पश्चिम की दार्शनिक बुद्धि को शुरू से ही प्रभावित किया है क्योंकि ज्ञान की जिज्ञासा का लक्ष्य भी प्राय: ऐसे ही ज्ञान में माना जाता है जो

असंदिग्ध और सार्वभौम हो, शुद्ध बुद्धि के द्वारा जाना जा सकता हो और जो अनिवार्य रूप से जगत् के लिए भी सत्य ठहरता हो।

इसको आश्चर्य की ही बात समझा जायेगा कि दर्शन की भारतीय परम्परा में गणित को कोई विशेष स्थान अभी भी प्राप्त नहीं है। बुद्धि से जो ग्रहण होता है और इन्द्रियों से जो प्राप्त होता है उसमें भेद तो एक प्रकार से सब संस्कृतियों में मिलता है पर जिस प्रकार से यह भेद ग्रीक दार्शनिकों ने रखा है वह अपने आप में एक अनूठी चीज है। दूसरी ओर ग्रीस में दर्शन को आवश्यक रूप में मनुष्य की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति से भी सम्बन्धित माना गया और इसका मूल कारण यह था कि ग्रीक दार्शनिकों ने मनुष्य के वैशिष्ट्य को सामाजिक या राजनीतिक प्राणी के रूप में देखा। समाज या राज्य से अलग उनकी दृष्टि में मनुष्य या तो पशु था या देवता। इसीलिए राजनीति और समाज दर्शन अभिन्न रहे, क्योंकि मनुष्य अपना आदर्श जीवन एक आदर्श समाज और राज्य में ही बिता सकता है। वैसे तो चीनी परम्परा में भी मनुष्य प्रधानत: सामाजिक प्राणी माना गया पर वहाँ समाज की इकाई को गृहस्थ के रूप में लिया गया, और जहाँ तक राज्य का सम्बन्ध था, मनुष्य स्वतन्त्र नागरिक न होकर केवल एक राज्य में रहने वाले प्राणी के रूप में देखा गया। ग्रीस का दार्शनिक विचार इस बात से प्रभावित था कि उनके देश में गणराज्य भी थे। संस्कृति के क्षेत्र में इनकी उपलब्धियाँ आश्चर्यजनक थीं और इसके साथ ही साथ ये अन्य राज्यों से संघर्ष में भी सफल हुए। शायद यही कारण रहा होगा कि ग्रीस के दार्शनिक विचारकों ने समाज और राजनीति पर दार्शनिक ढंग से विचार किया और मनुष्य के स्वतंत्र नागरिक रूप को उसकी मनुष्यता का अभिन्न अंग माना। पश्चिमी दर्शन के मूल में मनुष्य के विषय में जो दोहरी दृष्टि है, वह ही उसके 2500 साल के दीर्घकालीन इतिहास को एक दिशा देती रही और उसकी सजीवता का मूल स्रोत रही।

इस प्रकार जहाँ एक ओर ज्ञान का मानदण्ड गणित में पाया गया, वहीं दूसरी ओर मनुष्य को सामाजिक और राजनीतिक प्राणी के रूप में समझने के कारण मूल चिन्तन ने एक ऐसी दिशा ली जहाँ आदर्श मनुष्य, आदर्श समाज और आदर्श राज्य से अनिवार्य रूप से सम्बन्धित था। बुद्धि विचार की इन दोनों ही दिशाओं में केन्द्रीय बिन्दु का काम करती रही है। एक ओर वह अपने शुद्ध बौद्धिक रूप में ऐसे आदर्श प्रत्ययों को ग्रहण करती है जो केवल उसी के द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं और जिनकी सत्यता-असत्यता का प्रश्न वस्तु जगत् से पूर्णरूपेण स्वतंत्र होता है। दूसरी ओर बुद्धि ही उन आदर्श मूल्यों को ग्रहण करती है जिनको मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन में और राजनीतिक और सामाजिक जीवन में चरितार्थ करने की चेष्टा करता है। यहाँ एक ऐसा मूलगत भेद है जिस पर ध्यान देना आवश्यक है। शुद्ध बुद्धि से प्राप्त गणितीय ज्ञान का जगत् से कोई आवश्यक सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, परन्तु मूल्यबोध, चाहे वह व्यक्ति के स्वयं के सम्बन्ध में

हो या समाज और राज्य के सम्बन्ध में, उसकी सार्थकता वहीं तक प्रतीत होती है जहाँ तक वह मनुष्य को अपनी चरितार्थता के लिए कर्म में प्रवृत्त करता है।

ज्ञान और कर्म का यह द्वैत दर्शन का मूल विषय रहा है। ज्ञान के संदर्भ में परिवर्तन की बात ही गलत-सी लगती है, क्योंकि वास्तव में जो है, सो है, और यदि कुछ परिवर्तन हुआ भी प्रतीत होता है तो वह भी किसी नियम के अनुरूप ही होगा। और इसलिए उसमें परिवर्तन की प्रतीति हमारे अज्ञान को ही प्रदर्शित करती है। दूसरी ओर कर्म के सम्बन्ध में चिन्तन वस्तुस्थिति को आवश्यक रूप में परिवर्तनीय मानता है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं माने तो कर्म ही निरर्थक हो जाएगा। इन दो दृष्टियों के बीच झगड़ा पुराना है। भारतीय परम्परा में तो यह सर्वविदित ही है कि यह समस्या कम से कम उपनिषद् काल से मिलती है। यह ठीक है कि कर्म का उस समय एक विशिष्ट अर्थ लिया गया था जो प्रधानत: मीमांसा के यज्ञादि से सम्बन्धित था। और इसी प्रकार ज्ञान का अर्थ अधिकतर अद्वैत के उस मत से लिया गया जिसमें भेद-बुद्धि का होना ही अज्ञान का द्योतक माना जाता है। फिर भी, यद्यपि ज्ञान और कर्म की समस्या इस सन्दर्भ में उठी थी, परन्तु वह इस तक ही सम्बन्धित रही हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। पश्चिमी दर्शन के इतिहास में तो बुद्धि ने जो परिवर्तनशील है, उसे असत् माना या कम से कम उसको सत् कहा नहीं जा सकता। इसके अपवाद अवश्य हैं, जैसे उदाहरणार्थ हेरेक्लाइट्स का वह सिद्धान्त कि वास्तव में परिवर्तन ही सत् है और जो हमको स्थिर दिखायी देता है वह भ्रम मात्र है। यदि काल सत् है तो वास्तव में स्थिरता जैसी कोई चीज हो ही नहीं सकती। परन्तु यह दृष्टि पश्चिमी दर्शन के इतिहास की मान्य दृष्टि नहीं बन पायी। इसके विरुद्ध वह मत, जिसने यह प्रतिपादित किया कि परिवर्तनशीलता वास्तव में बुद्धि से अग्राह्य है और बुद्धि की कसौटी पर गलत उतरती है, उसने ही मान्यता प्राप्त की। भारतीय परम्परा में प्रारम्भ से ही बौद्धों ने स्थायित्व का खण्ड़न कर क्षणभंगवाद की स्थापना की और इस प्रकार से कम से कम दर्शन का एक प्रधान सम्प्रदाय परिवर्तशीलता को ही सत् का लक्षण मानने लगा।

दर्शन का एक और पक्ष है जो जगत् को अपनी समग्रता में जानने की चेष्टा करता है और जो यह पूछता है कि यह सब जो अनेक हैं वास्तव में इनमें कोई सम्बन्ध है भी या नहीं? क्या वे किसी एक ही वस्तु के विभिन्न रूप हैं या वास्तव में कोई ऐसा मूलभूत भेद है कि उन्हें किसी एक के अनुरूप समझा ही नहीं जा सकता? यह प्रश्न भी ग्रीक दार्शनिकों ने उठाया। मिलेटस द्वीप में होने वाले दार्शनिक थेलीज, एनेक्जिमेन्डर, एजेक्जिमेनीज आदि के विचार इन्हीं प्रश्नों पर केन्द्रित थे। इसके उत्तर उन्होंने क्रमश: जल, असीम और वायु कह कर दिये। एक प्रकार से इस प्रकार का प्रश्न वेदों में भी उठा था, परन्तु उसका रूप भिन्न प्रकार का था। उसमें यह पूछा गया था कि देवताओं में सबसे बड़ा देवता कौन है, और श्रुतियों से ऐसा लगता है कि प्रत्येक देवता को विशेष अवसर पर विशेष

संदर्भ में सबसे बड़ा देवता माना गया और अन्य देवताओं को उसका ही अंश रूप समझा गया। बाद में ऐसा लगा कि वास्तव में ये सब देवता भी किसी एक ऐसे सत् के विभिन्न रूप हैं जिसका स्वयं न कोई नाम है और न कोई रूप। इसी बात को वेदों की प्रसिद्ध पंक्ति में व्यक्त किया गया है कि "एकम् सत्' विप्रा: बहुधा वदन्ति"।

यह बात पश्चिमी दर्शन में उठी तो, परन्तु उसने न तो वह दिशा ही ली जो भारतीय परम्परा में उद्भूत हुई और न ही उसको उस प्रकार से समझा गया जिस प्रकार भारत में। इसके मूल में वास्तव में वही भेद है जिसका संकेत हमने ऊपर गणितीय ज्ञान की चर्चा के सम्बन्ध में किया है। यदि चरम सत् शुद्ध रूप से अरूप है तो बुद्धि का सम्बन्ध उससे ज्ञान रूप में नहीं हो सकेगा। एक प्रकार से ज्यामिति शास्त्र, जिसका विकास ग्रीस में हुआ और जिसको शुद्ध बुद्धि से ग्राह्य विषयों के ज्ञान की पराकाष्ठा के रूप में देखा जा सकता है, वह ऐसे रूपों व आकारों व उनके सम्बन्धों का ज्ञान है जो शुद्ध बुद्धि से ग्रहण किया जा सकता है। जो अरूप है उसको पकड़ने के लिए तो बुद्धि उतनी ही अक्षम है जितनी इन्द्रियाँ। इसलिए उसका ज्ञान पाने के लिए बुद्धि और इन्द्रियों दोनों से ही परे जाना होगा। यह कहना कठिन है कि भारतीय परम्परा में बुद्धि को स्वतंत्र रूप से ज्ञान का अवगाहक माना गया है या नहीं। ऐसा नहीं है, इसका प्रमाण इसी बात से मिलता है कि भारतीय तर्कशास्त्र के विषय में यह कहना कठिन है कि वह किसी अनुभव-निरपेक्ष शुद्ध आकारिक ज्ञान की बात करता है। ऐसी अनुभूति की तो बात की गई है जो हमको सत् का पता देती है, परन्तु ऐसी शुद्ध बुद्धि की चर्चा नहीं दिखाई पड़ती जो इन्द्रियों से स्वतंत्र होकर अपने आप में सत् को ग्रहण करती हो।

ग्रीस के पीथागोरियन सम्प्रदाय ने इन्द्रियग्राह्य विषय-जगत् को ऐसे परिमाणात्मक आकारिक रूप में देखा जो उस प्रकार के गणितीय सम्बन्धों में रूपान्तरित हो सकते हैं जो शुद्ध बुद्धि से ग्रहण किये जा सकते हैं। पश्चिमी विज्ञान के 2500 साल के लम्बे इतिहास के लिए यदि यह कहा जाये कि पीथागोरस की यह दृष्टि उसके मूल में रही है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। आज भी यह माना जाता है कि ज्ञान का क्षेत्र अपनी ज्ञानात्मकता को उसी हद तक पहुँच पाता है जिस हद तक वह इस दृष्टि को अपने में सफल रूप से रूपान्तरित कर सकता है। यदि बुद्धि ही सत् का निरूपण करती है तो जहाँ एक ओर वह गणित को सत् का मानदण्ड बना कर चलती है वहीं दूसरी ओर वह तर्कशास्त्र का सहारा लेती है। संख्याओं, रेखाओं के विभिन्न सम्बन्धों की खोज जहाँ बुद्धि को एक दिशा में ले जाती है, वहीं दूसरी ओर बुद्धि उस कसौटी को अभिव्यक्त करने की चेष्टा करती है जो स्वयं उसमें निहित है और जिसके आधार पर वह यह निर्णय करती है कि कोई बात तर्कसंगत है या नहीं, सच है या झूठ, सही है या गलत। इस कसौटी का आभास होना एक बात है और उसको पूर्णरूपेण अभिव्यक्त करना, दूसरी। शायद

यह माना जा सकता है कि वह अन्तर्निहित निकष, जिसके आधार पर हम सत् या असत् का निर्णय लेते हैं, कभी भी पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात शायद यह है कि इस प्रकार का निकष सत् या असत् के संदर्भ में ही प्रतीत नहीं होता, परन्तु शिव और सुन्दर के संदर्भ में भी इसका आभास हमें निरन्तर मिलता रहता है। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के रूप में मूल्यों का वर्गीकरण एक प्रकार से सनातन ही है और शायद सब संस्कृतियों और सभ्यताओं में पाया जाता है, परन्तु इनके विभिन्न आयामों का आभास कई नये प्रश्नों का जन्म देता है जो उनके स्वयं के सम्बन्धों के विषय में उठते हैं। क्या जो सत् है वही शिव और सुन्दर भी है, या शिव और सुन्दर सत् के बीच में दरार डालते हैं जो उसको दो भागों में बाँटती है। एक वह जो शिव है, और दूसरी ओर वह जो अशिव, या एक वह जो सुन्दर है, और दूसरा वह जो असुन्दर। शिव और सुन्दर के संदर्भ में भी इसी प्रकार के प्रश्न उठते हैं कि क्या जो शिव है वह अनिवार्य रूप से सुन्दर भी है,और इसी प्रकार की बात जो सुन्दर है उसके सम्बन्ध में उठायी जा सकती है।

प्लेटो ने इन अन्तर्निहित निकषों की समस्या को इस प्रकार से हल करने की कोशिश की थी कि क्योंकि इनको माने बगैर मनुष्य किसी भी क्षेत्र में कुछ भी नहीं कर सकता इसलिए मनुष्य की आत्मा जन्म से ही इनको अवश्य जानती होगी और उसी की स्मृति के आधार पर वह इस जगत् की वस्तुओं के संदर्भ में उन निकषों का अनिवार्य रूप से प्रयोग करती है। वास्तव में प्लेटो का यह मत इस सामान्य अनुभव पर आधारित है कि हम यह बताने में असमर्थ होते हुए भी कि किसी अमुक व्यक्ति का नाम क्या है, यह निश्चयपूर्वक बता सकते है जो नाम बताया गया है वह गलत है।

इसका आधार हमारे मन में अन्तर्निहित वह नाम है जो हमने कभी स्पष्ट रूप से जाना था और जो हमको किसी भी विशिष्ट नाम को सही या गलत कहने के लिए बाध्य करता है हालांकि हम उसको भूल गए हैं और यह पूछे जाने पर कि वास्तव में नाम क्या है हम उसको नहीं बता पाते। यह बात नाम के ही संदर्भ में नहीं बल्कि अन्य अनेक संदर्भों में भी मनुष्य के साधारण जीवन में घटित होती है।

शुद्ध बुद्धि से ग्रहण किये जाने वाले तत्त्वों में इस प्रकार न केवल गणितीय ज्ञान के शुद्ध संख्या, आकार, रूप आदि हैं और न केवल तर्क के वे नियम हैं जिनके आधार पर हम यह निश्चयपूर्वक कहते हैं यदि किसी ने किसी बात को माना है तो उसे कुछ अन्य बात भी माननी पड़ेगी। इनके अलावा बुद्धि अपने शुद्ध रूप में शिव और सुन्दर के आदर्शों को भी ग्रहण करती है और उन्हीं के आधार पर जो इन्द्रियग्राह्य जगत् से प्राप्त होता है उसको सत्-असत्, शिव-अशिव, सुन्दर-असुन्दर ठहराती है। परन्तु इस द्वन्दात्मक जगत् में विचरण करने के कारण जब वह चिन्तन शुरू करती है तब ऐसी अनेक पहेलियों में फँस जाती है जो एक

प्रकार से उसकी स्वयं की सृष्टि है परन्तु जिनसे उसका स्वयं का निकलना दुष्कर हो जाता है। इसका सहज कारण यह है कि जो उसको अनिवार्यत: सत्य प्रतीत होता है उसको इन्द्रियानुभूति का जगत् झुठलाता प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, यह सिद्धान्त कि शून्य से केवल शून्य की ही उत्पत्ति हो सकती है, असंदिग्ध प्रतीत होती है। परन्तु यदि इस पर गहन रूप से विचार करें तो इसमें यह अन्तर्निहित मालूम होगा कि वास्तव में कोई भी चीज, जो जरा भी नवीन है, उसकी कोई भी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, और इसके मानने पर यह निष्कर्ष भी सहज रूप में प्राप्त हुआ प्रतीत होगा कि वास्तव में उत्पत्ति जैसी कोई चीज ही नहीं हो सकती। उत्पत्ति की बात ही नहीं, परिवर्तन, गति आदि वे सब चीजें, जिनमें जो था उससे कुछ भिन्न होना निहित है, उसके विपरीत ही माना जायेगा जो अनिवार्य रूप से सत् है, और इसलिए उसकी सत्ता भ्रमपूर्ण ही कहलाएगी। ग्रीक दर्शन के इतिहास में यह बात एलिय द्वीप के प्रसिद्ध दार्शनिक पारमेनिडीज और जीनो के तर्कों में पायी जाती है। जीनो के गति और परिवर्तन के विरोध में दिए गए तर्क प्रसिद्ध हैं और हालांकि उनको पढ़ने या सुनने वाला प्रत्येक मनुष्य यह महसूस करता है कि उनमें वास्तव में कहीं न कहीं कोई दोष है परन्तु इस पर भी दार्शनिकों ने बराबर उसके तर्कों का खण्ड़न करने की चेष्टा की है। प्रसिद्ध दार्शनिक ह्वाइटहैड ने तो यहाँ तक कह ड़ाला है कि शायद किसी भी दार्शनिक को इससे बड़ी श्रद्धांजलि नहीं दी जा सकती कि उसके तर्कों का हर नयी आने वाली शताब्दी में बार-बार खण्ड़न करने की आवश्यकता प्रतीत हो।

पार्मेनिनिडीज ने यह सिद्ध करने के लिए कि सत् केवल एक ही हो सकता है, अनेक नहीं, यह सीधा-सा तर्क प्रस्तुत किया कि अनेक तत्त्वों के सत् होने के लिए यह आवश्यक है कि जो नहीं है, या शून्य मात्र है, उसकी सत्ता स्वीकार की जाये क्योंकि ऐसा मानना असम्भव है, इसलिए यह स्वीकारा नहीं जा सकता कि सत् अनेक हैं, सत् अनेक होने के लिए भेद और विविधता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। जब तक सत् के मध्य अन्तराल न हो, यानि कोई रिक्त स्थान जो एक सत् को दूसरे सत् से पृथक् कर सके, तो सत् में अनेकता कैसे आ सकेगी? परन्तु यदि शून्य की सम्भावना के विचार में ही अन्तर्विरोध है तो उससे तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि यदि अनेक तत्त्वों की प्रतीति होती है तो वह प्रतीति वास्तव में असत् ही है। इसी प्रकार ज़ेनो ने देश के अनन्त विभाजन की बात लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि जो अनन्त रूप से विभाज्य है, वह तो वास्तव में कभी भी पार किया ही नहीं जा सकता।

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो जो अनन्त रूप में विभाज्य है उसमें यह भी असम्भव है कि किसी एक बिन्दु के बाद किसी अन्य एक अन्य विशिष्ट बिन्दु को ही उसके बाद माना जाये। जो भी कोई ऐसा बिन्दु होगा उसके और पहले के बीच में अनन्त अन्य बिन्दु सदैव बताये जा सकते हैं। एलियाटिक दार्शनिकों ने यदि

परिवर्तन और गति के प्रत्ययों को इस प्रकार से अन्तर्विरोधी सिद्ध किया और उससे यह निष्कर्ष निकाला कि उनकी प्रतीति भ्रमपूर्ण है तो हेराक्लिटस ने इसी बात को एक भिन्न मोड़ देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि वास्तव में जो भी स्थिर है, या अपरिवर्तनशील प्रतीत होता है, वह असत् है। उनका भी तर्क सरल और सीधा था। उसको इस प्रकार से समझ सकते हैं कि यदि काल सत् है तो कोई भी वस्तु किसी भी अन्य क्षण में वैसी ही नहीं रह सकती जैसी कि वह इससे पहले थी। इसलिए ऐसी प्रतीति कि कोई वस्तु स्थिर या अपरिवर्तनशील है, एक प्रकार से भ्रमपूर्ण ही प्रतीत होगी। एक तरह से हम अपने अनुभव में यह जानते भी हैं कि जब भी हम चीजों को स्थिर मान बैठते हैं, काल का प्रभाव हमको जल्दी ही यह बताता है कि हमारी यह मान्यता गलत थी। इसी बात को हेराक्लिट्स ने अपनी प्रसिद्ध उक्ति में कहा था कि काल के चिरन्तन प्रवाह में हम कभी किसी भी स्थान पर स्थिर होकर नहीं खड़े हो सकते।

ग्रीक दर्शन में इन दो भिन्न दृष्टियों ने, जो एक प्रकार से दोनों ही बुद्धि की देन थीं, उस चेतना को जन्म दिया जो उनके विरोधों के बीच समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करती हैं और उसने ऐसा किया भी। ग्रीक दर्शन के बहुतत्त्ववादी दार्शनिकों ने इस सामंजस्य की नींव डालने की चेष्टा की और उसका आधार उन्होंने यह सिद्धान्त बताया कि अनेक अपरिवर्तनशील तत्त्व होने आवश्यक हैं जिनके सम्मिश्रण से ही परिवर्तन उत्पन्न होता है। एम्पेडोक्लीज, एनेक्सागोरस, लियूस्प्पिस और डेमॉक्रिटस ने इसी विचार को भिन्न रूपों में रखने की चेष्टा की है।

इस प्रकार जो अपरिवर्तनशील है उसका परिवर्तन से क्या सम्बन्ध है, यह बात ग्रीक दर्शन की मूलभूत समस्या के रूप में उदित हुई। एक प्रकार से प्लेटो और एरिस्टोटल का दर्शन इसी समस्या के समाधान के रूप में समझा जा सकता है। इन्द्रियाँ जिसको ग्रहण करती हैं, वह एक प्रकार से सतत् परिवर्तनशील प्रतीत होता है और बुद्धि से जो ग्रहण होता है उसके विषय में ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें परिवर्तन की सम्भावना ही नहीं है। इसी प्रकार यह समस्या बुद्धि से गृहीत सत्य और इन्द्रियों से गृहीत अनुभव के बीच सम्बन्ध की समस्या है। और चूँकि हम एक प्रकार से दोनों ही जगतों में रहते हैं, इसलिए पूर्णरूप से किसी को भी झुठलाना हमारे लिए असम्भव सा प्रतीत होता है। परन्तु क्योंकि दर्शन बुद्धि प्रधान है इसलिए वह जो बुद्धि कहती है उसको ही प्रधान मान्यता देता है और शायद इसलिए करीब-करीब सब दार्शनिक परम्पराओं में इन्द्रिय से ग्रहण होने वाले जगत् को अन्तिम रूप से सत्य मानने से इन्कार किया जाता है। यह ठीक है कि दर्शन के क्षेत्र में अनुभववादी परम्परा भी रही है, परन्तु एक ओर तो ऐसे दार्शनिकों की संख्या कम ही है जिन्होंने इसी परम्परा को पूर्णरूप से अपनाया है और दूसरे, जिन लोगों ने ऐसा किया भी है उन्होंने भी इसके आधार पर तर्क के सहारे ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचने की अनिवार्यता महसूस की है जो जनसाधारण के विश्वासों के विपरीत

है। इसका मूल कारण यह है कि चाहे दार्शनिक सत्य के बारे में किसी भी पूर्वाग्रह को लेकर चले, यानि वह चाहे इन्द्रियानुभव को प्रधानता दे या बुद्धि को, उसको एक दार्शनिक होने के नाते कम से कम तर्क की इस अनिवार्य शर्त को तो मानना ही पड़ता है कि यदि वह किसी बात को स्वीकार करता है तो उसको वह सब भी स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है जो उसमें निहित है या उससे आपादित होता है। इसलिए अधिकतर दार्शनिकों के बारे में यह सच है कि वे जहाँ से भी चलते हैं वहाँ से धीरे-धीरे कुछ ऐसे नये स्थान पर पहुँचने के लिए बाध्य होते हैं जो जनसाधारण को स्वीकार्य नहीं हो पाता, यहाँ तक कि जो जनसाधारण को बहुत अटपटा और अजीब सा लगता है। इसके अलावा एक बात जो और भी ध्यान देने योग्य है वह यह है कि जो इन्द्रियों से अनुभूत होता है यदि हम उसको प्रत्येक दशा में सच मानें तो वास्तव में भ्रम जैसी कोई चीज ही नहीं मानी जायेगी, क्योंकि इन्द्रिय-प्रतीति के रूप में जो भ्रमपूर्ण अनुभव हैं वे भी उतने ही सही रूप में प्रतीत होते हैं जितने कि वे अनुभव जिन्हें हम सच मानते हैं। सूर्य सबको चलता हुआ दिखायी देता है और क्षितिज पर पृथ्वी और आकाश सबको एक दूसरे को छूते हुए प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, यह सब लोग मानते हैं। इसलिए, केवल कुछ प्रतीत होता है, इसके आधार पर यह कभी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि जो प्रतीत हो रहा है वह वास्तव में सत्य भी है।

प्लेटो ने इसीलिए इन्द्रियों से उत्पन्न जो ज्ञान है उसको ज्ञान की संज्ञा देने से इन्कार कर दिया और कहा कि उसके विषय में भी क्या सच है क्या झूठ, यह निर्णय बुद्धि ही देती है। परन्तु बुद्धि के क्षेत्र को प्लेटो ने केवल इन्द्रियों से अनुभूत जगत् तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि उसको हमारे उन अनुभवों में भी प्रवेश कराया जो शिव और सुन्दर से सम्बन्धित है। आदर्श राज्य क्या है, उसमें धर्म या न्याय का आदर्श स्वरूप क्या है, मित्रता, स्नेह आदि सम्बन्धों के वास्तविक आदर्श स्वरूप क्या हैं, इन सब बातों पर भी प्लेटो ने गहन चिन्तन किया और उनको भी बुद्धि का सहज क्षेत्र माना। वास्तव में प्लेटो में डायलेक्टिक्स और गणितीय प्रणाली में जो भेद है, वह शायद इसी आधार पर है। गणितीय पद्धति के द्वारा शुद्ध बुद्धि जिन प्रत्ययों को ग्रहण करती है वह उन क्षेत्रों में सार्थक सिद्ध नहीं होते जो मूल्यों से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। मूल्यों को समझने के लिए व्यक्ति को एक अन्य विधि अपनानी पड़ती है जिसको प्लेटो ने डायलेक्टिक्स का नाम दिया। इसको शायद इस प्रकार से भी समझा जा सकता है कि मूल्यों के क्षेत्र में एक ऐसा आवश्यक भेद है जो अन्य क्षेत्रों में निहित नहीं है यानि, मूल्य और जो उसके विपरीत है उसका भेद अन्तर्निहित है। सुन्दर-असुन्दर, शिव-अशिव, सत्-असत् एक दूसरे से बंधे प्रतीत होते हैं और बँधे भी इस प्रकार से है कि एक को समझने के लिए दूसरे का समझना आवश्यक होता है।

प्लेटो के दर्शन के सम्बन्ध में अनेक समस्याएँ हैं, और यह भी कहना मुश्किल है कि उसको ठीक किस प्रकार से समझा जाये। परन्तु जो मूल बिन्दु उसके विचार में है वह यह है कि जो बुद्धि से ग्रहण होता है, चाहे वह गणितीय रूप में हो या डायलेक्टिक्स के रूप में, और जो इन्द्रियों से गृहीत जगत् है, उनमें सम्बन्ध किस प्रकार का है।

इसके बारे में बहुत मतभेद होते हुए भी इसमें शायद ही किसी को शक हो कि प्लेटो दर्शन के इतिहास में उस विचार का प्रतीक माना जाता है जो यह मानता है कि इनके बीच में ऐसी विशाल खाई है जो पाटी नहीं जा सकती। शुद्ध सत् केवल बुद्धि से ही गृहीत होता है और उसको ग्रहण करने के लिए हमको इन्द्रियजगत् से आँख मोड़ लेनी पड़ती है। यह सच है कि प्लेटो ने स्वयं इमीटेशन (Imitation), पार्टीसिपेशन (Participation) जैसे शब्दों का प्रयोग कर इन्द्रियग्राह्य जगत् और बुद्धिग्राह्य जगत् के बीच के सम्बन्ध को समझाने की चेष्टा की है और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन्द्रियों से जो ग्रहण होता है वह कुछ अंश में उसके अनुरूप है जो बुद्धि से ग्रहण होता है और इसलिए पूर्णरूप से असत् नहीं है। परन्तु यह पक्ष प्लेटो ने अपने दर्शन में उतने सफल रूप में स्थापित नहीं किया जितना अरस्तू ने। यदि ऐसा न होता तो अरस्तू उसकी इस बात को लेकर आलोचना न करता।

अरस्तू के स्वयं के अनुसार जो बुद्धि से ग्रहण होता है उसकी वास्तव में कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वह तो जो इन्द्रियों से गृहीत होता है उसमें ही अन्तर्निहित रहता है। अरस्तू परिवर्तन के प्रत्यय को समझने की चेष्टा करता है और कहता है कि परिवर्तन को समझने के लिए हमें साथ-साथ दो प्रत्ययों को समझने की आवश्यकता है। एक, जिसको तथ्य कहते हैं और दूसरा, जिसको सम्भाव्य कहते हैं। चूँकि कोई भी तथ्य स्वयं में पूर्ण तत्त्व नहीं है इसलिए उसमें परिवर्तन की गुंजाइश सदैव रहती है और जो परिवर्तन होता है वह यह बतलाता है कि जो पहले नहीं था और अब है, उसको पहले की अवस्था में संभाव्य रूप में निहित मानना अनिवार्य होगा। बीज में वृक्ष सम्भाव्य रूप में है, तथ्य रूप में नहीं। बीज स्वयं में पूर्णरूप से तथ्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अगर ऐसा होता तो वह स्वयं में वृक्ष होता, न कि बीज। और यदि बीज रूप में ही पूर्ण तथ्य होता तो वह कभी वृक्ष का रूप धारण नहीं करता। यदि प्लेटो गणित से बहुत प्रभावित था तो यह कम से कम कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अरस्तू प्राणि-जगत् के विज्ञान से प्रभावित था। इस क्षेत्र में उसकी स्वयं की बहुत-सी खोजों को आज भी माना जाता है। प्राणि-जगत् के सत्य की ओर यदि ध्यान दिया जाये तो सत् के बारे में जो दृष्टि बनती है वह उस दृष्टि से भिन्न होती है जो जड़ जगत् या मानवीय जगत् पर चिन्तन करने से उत्पन्न होती है। जड़ जगत् कार्य-कारण की शृंखला से बँधा प्रतीत होता है

और उसमें कोई स्वयं का प्रयोजन या लक्ष्य देखने को नहीं मिलता। इसके विपरीत मानवीय जगत् में संकल्प का प्राधान्य नजर आता है। मूल्य और आदर्श को संकल्प और मानवीय प्रयत्न द्वारा जगत् में रूपायित या उनको मूर्त रूप देने की चेष्टा सब जगह स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। आदमी की संस्कृति, सभ्यता, कला, समाज, राज्य आदि सब क्षेत्रों में एक ही सतत् प्रयत्न देखने को मिलता है, यानि जो है उससे असंतोष तथा उसको कुछ ऐसा रूप देने की चेष्टा जो उसकी इच्छाओं या आदर्शों के अधिक अनुकूल हो। इन दोनों के विपरीत प्राणि-जगत् में चेतना, लक्ष्य प्रयोजन आदि तो स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, परन्तु किसी संकल्पशील मूल्योन्मुख चेतना का अभाव सा प्रतीत होता है। फिर भी, एक बात जो मानव और प्राणि-जगत् में समान है, वह उस सम्भाव्य का क्रियमाण रूप में सत् होना है, जो हालांकि वर्तमान में नहीं है परन्तु फिर भी भविष्य के गर्भ में स्थित होकर वर्तमान को एक दिशा देने की चेष्टा करता है, उसको किसी एक विशिष्ट साँचे में ढ़ालने का प्रयत्न करता है। इन्द्रियों से जो ग्रहण होता है वह वर्तमान तक ही सीमित होता है। अतीत और भविष्य दोनों एक प्रकार से उसके लिए असत् हैं। अतीत स्मृति का विषय अवश्य है, परन्तु वह तो वह है जो हो चुका है। भविष्य इसके विपरीत केवल काल्पनिक ही माना जा सकता है। परन्तु प्राणि-जगत् के तथ्यों को समझने के लिए भविष्य को किसी न किसी रूप में सत्य मानना पड़ता है, क्योंकि बीज को वृक्ष तक पहुँचने के क्रम में या बच्चे से बड़े होने तक के क्रम में कुछ ऐसी सुनिश्चितता है कि क्रम में जो आगे होने वाला है वह जो हो रहा है उसको नियमित करता व दिशा देता प्रतीत होता है।

अरस्तू ने अपने दर्शन का केन्द्र बिन्दु इस जीव-जगत् के संदर्भ में होने वाले व्यापक अनुभव और उससे उत्पन्न कोटियों को बनाया है। जड़ जगत् को भी उसने इन्हीं कोटियों के अनुसार समझने की चेष्टा की और उसका प्रभाव इतना व्यापक रहा कि अनुगामी दार्शनिकों को जगत् को कार्य-कारण की कोटि के द्वारा समझने में और लक्ष्य प्रयोजन आदि की कोटियों के द्वारा समझने में भेद करने में बहुत समय ही नहीं लगा बल्कि बहुत कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ा। 16वीं शताब्दी में अरस्तू के इस व्यापक प्रभाव पर गैलीलियो ने पहला प्रहार किया और विज्ञान को एक नयी दिशा दी। कम से कम जड़ जगत् के संदर्भ में प्रयोजन और लक्ष्य आदि की कोटियों को नितान्त भ्रमपूर्ण बताकर उसने उसको एक प्रहार से विज्ञान के क्षेत्र से बाहर ही निकाल दिया। तब से आज तक एक प्रकार से वैज्ञानिक चिन्तन पद्धति का लक्षण ही यह हो गया कि वह केवल कार्य-कारण की कोटि से ही परिचालित हो सकती है और उसमें से प्रयोजन की कोटि का समावेश वर्जित है। यह बात यहाँ तक फैल गयी कि प्राणि-जगत् को भी वैज्ञानिक रूप से

समझने के लिए उनके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के लक्ष्य या प्रयोजन का प्रत्यय गलत समझा जाने लगा और बाद में मनुष्य के व्यवहार और उसकी स्वयं की प्रतीति को समझने की चेष्टा में भी इस कोटि का प्रयोग गलत माना जाने लगा। डार्विन, न्यूटन, फ्रायड, मार्क्स आदि के नाम इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध हैं। यह सच है कि अत्याधुनिक वैज्ञानिक विचारकों ने इसका विरोध किया है, परन्तु यह कहना गलत होगा कि इस विरोध को कोई विशेष सफलता प्राप्त हुई है। समाज और संस्कृति के क्षेत्र में यह विरोध अवश्य कुछ सफलता प्राप्त करता प्रतीत होता है। परन्तु जड़ और प्राणि-जगत् के सम्बन्ध में ऐसा कहना कठिन है। अरस्तू का नाम उस दृष्टि के साथ इतना जुड़ा हुआ है कि जो भी दृष्टि आधुनिक विज्ञान के विपरीत होती है उसको **एरिस्टोटेलियन साइन्स** के नाम से पुकारा जाता है।

गणित और विज्ञान ये दो ऐसे क्षेत्र हैं जिनका पश्चिम के दार्शनिक चिन्तन से गहरा सम्बन्ध रहा है। ज्ञान का आदर्श या तो गणित स्वयं रहा है या विज्ञान का वह स्वतंत्र स्वरूप जो अरस्तू ने प्राणि-विज्ञान में पाया था या न्यूटन, गैलीलियो आदि के बाद जो भौतिकी में पाया जाता है। इसके विपरीत दर्शन की भारतीय और चीनी परम्परा में इसका बिल्कुल अभाव है। इन परम्पराओं में दार्शनिक चिन्तन का न गणित से सम्बन्ध है और न विज्ञान से। यह बात वास्तव में उस मूलभूत भेद को जन्म देती है जो उनको पश्चिमी दर्शन से अलग करती है। हालांकि अरस्तू का दार्शनिक चिन्तन प्राणि-जगत् से सम्बन्धित विज्ञान से प्रभावित है, परन्तु स्वयं उसने ही गणित और विज्ञान के सम्बन्ध को एक नयी दिशा दी और वैज्ञानिक ज्ञान के आदर्श का वह रूप प्रस्तुत किया जो पश्चिमी संस्कृति के ज्ञान के आदर्श के रूप में निरन्तर प्रभावशाली रहा है। अपनी प्रसिद्ध कृति Posterier Analyticus में अरस्तू ने ज्ञान का वह आकारिक रूप प्रदर्शित किया जिसमें किसी भी क्षेत्र के ज्ञान को 'ज्ञान' कहलाने के लिए ऐसा रूप अख्तियार करना चाहिए जिसमें कि कम से कम स्वत: सिद्ध मूलभूत मान्यताओं के आधार पर तर्कशास्त्रीय पद्धति द्वारा उस क्षेत्र के सभी सत्य निगमित किये जा सकें। यूक्लिड ने बाद में ज्यामिति को इसी आदर्श पर स्थापित किया। परन्तु वास्तव में अरस्तू के विज्ञान के विचार में यह पहले से ही निहित था, और बाद में तो पश्चिमी परम्परा में यह तय-सा ही हो गया कि कोई भी विज्ञान जब तक यह रूप नहीं लेता तब तक वह पूर्ण रूप से ज्ञान कहलाने का अधिकारी ही नहीं कहा जा सकता।

प्लेटो के संवादों में सब प्रकार की दार्शनिक समस्याओं का निरूपण है, परन्तु उनमें उनका रूप सुनिश्चित नहीं हो पाया है। परन्तु जहाँ तक अरस्तू का सवाल है, शायद ही ज्ञान की कोई ऐसी विधा हो जिसको अरस्तू ने अधिकारपूर्वक सुनिश्चित रूप न दिया हो। यह रूप यहाँ तक प्रभावकारी बना कि पश्चिमी

चिन्तन के इतिहास में आज भी करीब-करीब प्रत्येक क्षेत्र में अरस्तू के दिये हुए रूप में ही इन विषयों में चिन्तन होता है। केवल भौतिक विज्ञान और तर्कशास्त्र के क्षेत्र में मानवीय चिन्तन ने नयी दिशाएँ ली हैं और उन कोटियों का अतिक्रमण करने की चेष्टा की है, जो अरस्तू ने इन क्षेत्रों में स्थापित की थीं। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पश्चिमी सभ्यता के मूल में प्लेटो और अरस्तू के वे विशाल दर्शन हैं जिनमें चिन्तन का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जो उनसे अछूता रहा हो।

प्लेटो और अरस्तू के बाद ग्रीस और रोमन दार्शनिक चिन्तन ज्ञान और सत् की समस्या से अलग होकर केवल नैतिक समस्या तक ही सीमित हो गया और यह विचार उन दो प्रसिद्ध धाराओं में बँट गया जो स्टोइक और एपिक्यूरिअन के नाम से प्रसिद्ध हैं। परन्तु जो बात इससे भी अधिक महत्त्व की है वह उस ईसाई धर्म का उदय है जिसने पश्चिमी दर्शन की विचारधारा को एक बिल्कुल नया मोड़ दे दिया। एक प्रकार से विश्व के इतिहास में यह एक अभूतपूर्व बात ही मानी जाएगी, क्योंकि इस प्रकार की घटना किसी अन्य परम्पराओं में नहीं मिलती। ईसा के आविर्भाव और ईसाई धर्म को पूर्ण मान्यता प्राप्त होने के बाद के पश्चिम के सभी दार्शनिकों में यह बात बहुत दिनों तक विवाद का विषय रही कि ईसा से पूर्व होने वाले दार्शनिक चिन्तन को क्या स्थान दिया जाए। एक प्रकार से उस समय के विद्वान् ईसाई धर्म को दार्शनिक दृष्टि से हीन समझते थे। उनकी दृष्टि में, प्लेटो और अरस्तू जैसे महान् विचारकों की प्रखर बुद्धि के सामने विश्वास और श्रद्धा पर आधारित ईसाई धर्म वास्तव में उन लोगों को ही मान्य हो सकता था जिनमें तर्क और बुद्धि के लिए न तो निष्ठा ही थी, न शक्ति। परन्तु जैसे-जैसे ईसाई धर्म के मानने वाले बढ़े और लोग ईसाई धर्म को ग्रहण करने लगे, पश्चिम के विचारकों के सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि ग्रीक दर्शन और ईसाई धर्म में किस प्रकार समन्वय उपस्थित किया जाए। इस प्रकार की समस्या किसी अन्य दार्शनिक परम्परा में उपस्थित नहीं हुई। शुरू से ही भारतीय परम्परा में प्रामाणिक माने जाने वाले वेदों के पहले भारत में कोई व्यापक दार्शनिक परम्परा थी ही नहीं, और यही बात चीन की परम्परा के बारे में भी कही जा सकती है। यह ठीक है कि बौद्ध और जैन परम्पराओं ने वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं किया, परन्तु चूँकि उनके आविर्भाव के पूर्व कोई व्यापक बुद्धिनिष्ठ दार्शनिक चिन्तन नहीं मिलता इसलिए उनके सामने कोई ऐसी समस्या उत्पन्न नहीं हुई जो ईसाई मत को मानने वाले दार्शनिकों के सामने पश्चिम में उपस्थित हुई थी।

इसके अलावा जो समस्या पश्चिम के ईसाई दार्शनिकों के सामने थी, वह यह भी थी कि ग्रीक दर्शन की मूलभूत मान्यताएँ और ईसाई धर्म की मूल

मान्यताओं में कम से कम कुछ स्थानों पर पूर्ण मतभेद था, और चूँकि ग्रीक दर्शन पहले ही प्लेटो और अरस्तू में अपनी पूर्ण परिपक्वता को प्राप्त हो चुका था इसलिए उससे पूर्णतया भिन्न मान्यताओं पर आधारित ईसाई धर्म के विश्वासों को तर्कसंगत युक्तिपूर्ण रूप देना ईसाई दार्शनिकों के लिए एक बड़ी भारी चुनौती थी। इस प्रकार की एक समस्या बाइबिल के उस कथन में निहित थी कि ईश्वर ने जगत् की सृष्टि शून्य से की, यानि सृष्टि से पहले कुछ भी नहीं था। दूसरे अर्थों में, सृष्टि वास्तव में ही सृष्टि थी, वह किसी पूर्व स्थिति में परिवर्तन मात्र नहीं थी। यह बात ग्रीक दर्शन की उस मान्यता के बिल्कुल विरुद्ध थी, जो यह स्वतः सिद्ध मानती है कि शून्य से तो केवल शून्य की ही उत्पत्ति हो सकती है।

भारतीय दर्शन में असत्-कार्यवाद और सत्-कार्यवाद इसी विवाद के द्योतक हैं। परन्तु चूँकि ईश्वर का विचार भारतीय दर्शन में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता, इसलिए यह प्रश्न कि समस्त जगत् किसी चरम सत्ता के शुद्ध संकल्प के द्वारा शून्य से सृष्ट होता है अथवा नहीं, इस मत पर कोई विशेष विचार नहीं पाया जाता। ईसाई धर्म के दार्शनिकों के सामने एक नयी समस्या यह भी थी कि ईसा के पूर्व होने वाले मनुष्यों को सत् का पता किस प्रकार हो सकता था, जबकि उनके धर्म के अनुसार जो सत्य है वह तो केवल ईसा ही के माध्यम से प्राप्त हो सकता है। इन सब बातों को लेकर मध्ययुगीन दर्शन बराबर चिन्तित रहा और उसने इस सन्दर्भ में उठने वाली समस्याओं के समाधान का प्रयत्न किया।

इस संदर्भ में जो एक बात और ध्यान रखने की है, वह यह है कि बहुत काल तक पश्चिम के ईसाई दार्शनिकों को प्लेटो और अरस्तू के ग्रन्थ प्राप्त ही नहीं थे। प्लेटो को तो वे प्लोटीनस और उसके नव्यप्लेटोवादी कहे जाने वाले अनुयायियों के ग्रन्थों के द्वारा ही जानते थे। बाद में उन्हें अरब दार्शनिकों द्वारा प्लेटो और अरस्तू के अरबी भाषा में किये हुए अनुवाद प्राप्त हुए और उन्होंने उनका लैटिन भाषा में अनुवाद किया। इब्न सीना और इब्न रुश्द, जिन पर इस संग्रह में लेख संकलित किए जा रहे हैं, अरस्तू के भाष्यकारों में सबसे प्रसिद्ध थे। इनके अलावा भी बहुत से अन्य अरब दार्शनिक थे, जिनमें अलकिन्दी, अलफराबी, अल-गज्जाली आदि बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनके विषय में इस संकलन में लेख नहीं हैं। इन सब अरब दार्शनिकों के विचारों को समझना कुछ हद तक मध्ययुगीन दर्शन को समझने के लिए आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं अरब अनुवादों के आधार पर पश्चिमी यूरोपीय दार्शनिकों को प्लेटो और अरस्तू के दर्शन का पता चला। शुद्ध ग्रीस से तो अनुवाद बहुत बाद में हुआ। इसलिए यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि ग्रीक दर्शन के बारे में मध्ययुगीन ईसाई दार्शनिकों को जो ज्ञान प्राप्त था, वह

पूर्ण रूप से ठीक न होकर उस प्रकार का था जैसा कि अरब अनुवादकों ने उनके बारे में समझा था।

बहुत बार इस मध्ययुगीन ईसाई दर्शन की तुलना भारतीय दर्शन से की जाती है, विशेष तौर पर इस संदर्भ में कि वह बाइबिल को प्रमाण रूप में स्वीकार करता है और दर्शन का काम इसी में मानता है कि वह ईश्वर द्वारा प्रकाशित उन चरम सत्यों को, जो बाइबिल में मिलते हैं, एक बौद्धिक तर्कसंगत रूप दे। ऐसा शायद इसलिए कहा जाता है कि भारतीय दर्शन में बौद्ध, जैन, चार्वाक को छोड़कर सभी अन्य दर्शन वेदों को प्रमाण रूप में स्वीकर करते हैं और बुद्धि का काम कुछ उसी प्रकार का समझते हैं जैसा कि मध्ययुग के पश्चिमी दर्शन में समझा जाता है। परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। वेदों को उस प्रकार से प्रमाण तो कभी भी नहीं माना गया जिस प्रकार से बाइबिल को माना जाता है। विभिन्न आस्तिक दार्शनिक सम्प्रदायों के आदि-ग्रन्थ, जिनको कुछ हद तक प्रमाण रूप में माना जाता है, वे सूत्र ग्रन्थ हैं, जिनसे उनका प्रारम्भ समझा जाता है। वेदों को सीधे प्रमाण मानने वाला पूर्वमीमांसा सम्प्रदाय तो वेदों को केवल विधि-निषेध के रूप में ही मानता है और इस प्रकार उसके अनुसार, ज्ञान और सत् के सम्बन्ध में वेदों में कोई विचार नहीं है। जहाँ तक उत्तरमीमांसा का प्रश्न है, वह केवल उपनिषदों को ही प्रमाण रूप में लेता है, समस्त वेदों को नहीं। इसके अलावा, अनेक दार्शनिक वास्तव में वेदों के सम्बन्ध में बात नहीं करते। उदाहरण के लिए करीब-करीब सारे नव्य न्याय के ग्रन्थ बुद्धिजन्य समस्याओं की उलझनों को ही सुलझाने में लगे रहते हैं।

दूसरी ओर पश्चिम के मध्ययुगीन ईसाई दर्शन को पूर्णरूपेण बाइबिल केन्द्रित मानना एक भूल ही होगी। यह अवश्य था कि एक ओर श्रद्धा, विश्वास और ईश्वर से प्रकाशित सत्य की बात थी और दूसरी ओर तर्कनिष्ठ बुद्धि से ग्रहण होन वाले सत्य की ओर दोनों में सम्बन्ध कैसे जोड़ा जाये, यह समस्या थी, और यह भी सत्य है कि यह समस्या कुछ इस प्रकार की थी जो शायद भारतीय दर्शन की परम्परा में उस प्रकार से उदित नहीं हुई थी। इसी आधार पर पश्चिम के इतिहास में दर्शन और थियोलॉजी में एक मौलिक भेद उत्पन्न हुआ। यह कहा गया कि वह विद्या जो सीधे बाइबिल में ईश्वर द्वारा प्रकाशित सत्यों से सम्बन्धित है और उनको समझने की चेष्टा करती है, या उनको उस प्रकार से रखने की चेष्टा करती है जो उनका सही रूप है और उन सबसे अलग करती है जो उनको समझने का गलत तरीका है, उस प्रकार की विद्या से बिल्कुल भिन्न है जो उन्हीं सत्यों को एक प्रकार से बुद्धिनिष्ठ, तर्कसंगत और तर्कसिद्ध बनाने की चेष्टा करती है। दर्शन का सम्बन्ध वास्तव में दूसरे प्रकार की विद्या से ही है और यह सबको पता है कि एक बार किसी बात को तर्कसंगत और तर्कसिद्ध करने की चेष्टा करते ही एक

प्रकार से तर्क की प्रक्रिया स्वतंत्र रूप ले लेती है। मध्ययुगीन दर्शन का इतिहास एक तरह से बुद्धि के इस स्वातंत्र्य का इतिहास ही है। यह ठीक है कि महान् से महान् विचारक भी ईसाई धर्म के प्रभाव से अछूते नहीं थे, खासतौर से इसलिए भी कि उस ज़माने में कोई भी व्यक्ति, जिसके खिलाफ यह सिद्ध हो जाता कि वह ऐसे मतों का प्रतिपादन करता है जो ईसाई धर्म के सबसे बड़े व्यवस्थापकों की दृष्टि में बाइबिल के अनुरूप नहीं हैं तो उसको प्राणदण्ड की सजा तक हो सकती थी। इसलिए इस बात से बचने के लिए मध्ययुग के दार्शनिक विचारकों ने दो मार्ग अपनाए। एक तो यह कि श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्रों को पूर्णतया अलग रखा जाये और इस प्रकार यह स्थापना की जाये कि धर्म के जो चरम सत्य हैं वे केवल श्रद्धा और विश्वास के द्वारा ही जाने जा सकते हैं। बुद्धि के ज्ञान की अपनी सीमा है जो उसे उन सत्यों को जानने में स्वरूपत: असमर्थ बनाती है जो श्रद्धा और विश्वास को सहज प्राप्य हैं। दूसरी, जो दिशा उन्होंने ली, वह यह थी कि यदि बुद्धि का ठीक-ठाक प्रयोग किया जाये तो वह न केवल धर्म में प्रकाशित तथ्यों के विपरीत न होकर, या उनसे भिन्न भी न होकर, उनको पुष्ट ही नहीं करती है, बल्कि उनको बुद्धिसंगत या तर्कसंगत भी बताती है।

ये दोनों दिशाएँ आधुनिक दर्शन के विचारकों में भी पायी जाती है, हालांकि उतने स्पष्ट रूप में नहीं जितने मध्ययुग के दार्शनिकों में। डेकार्ट, कांट, लाइब्नित्ज़ आदि आधुनिक युग के महान् से महान् दार्शनिकों में भी यह बात देखने को मिलती है, चाहे इसका रूप कितना ही भिन्न क्यों न हो। वास्तव में आधुनिक युग की बहुत सी दार्शनिक समस्याओं को तब तक ठीक रूप से नहीं समझा जा सकता जब तक कि हमें मध्य युग के दर्शन का ज्ञान न हो। हमारे देश के पठन-पाठन में यह कमी विशेष रूप से पायी जाती है क्योंकि पश्चिम के मध्ययुगीन दर्शन का शायद ही हमारे पाठ्यक्रमों में कोई स्थान हो। इसका एक कारण तो यह है कि स्वयं पश्चिमी दर्शन के इतिहास में मध्ययुगीन दर्शन के बारे में जो धारणाएँ प्रचलित थीं उनमें परिवर्तन केवल पिछले 60-70 साल में ही हुआ है और उस नयी दृष्टि के प्रभाव का पठन-पाठन में प्रवेश होने में काफी समय लगा है। पहले तो मध्ययुग के दर्शन को दर्शन ही नहीं कहा जाता था और वैसे भी उसको एक 'अंधकार-युग' माना जाता था। परन्तु आज यह मान्यता भ्रमपूर्ण ही मानी जाती है। यही नहीं, इस मध्य युग के लम्बे काल को कम से कम तीन भागों में विभाजित किया जाता है, जो सब एक प्रकार के नहीं कहे जा सकते।

मध्ययुग के दर्शन की एक और विशेषता, जिस पर यहाँ ध्यान देना आवश्यक है, वह यह है कि ईश्वर को सत्य के रूप में मान लेने पर भी उनके सामने कुछ ऐसी समस्याएँ भी रहीं जो कि ग्रीक दर्शन, या कहें, प्लेटो और अरस्तू

के दर्शनों के कारण उदित हुई थीं। प्लेटो ने ऐसे शुद्ध प्रत्ययों को ही सत् माना था जो केवल शुद्ध बुद्धि से ही ग्राह्य होते हैं और इन्द्रिय ग्राह्य विषयों को उनकी प्रतिच्छाया मात्र माना था। इन शुद्ध आकारों की सत्ता अरस्तू ने भी मानी थी, हालांकि उनका विचार इस विषय में प्लेटो से बहुत भिन्न था। परन्तु यह बात कि जगत् के प्रत्येक इन्द्रियग्राह्य विषय का एक शुद्ध आकार या तत्त्व होता है जो बुद्धि से ग्रहण किया जा सकता है और जिसको जानने पर ही उस विषय का सत्य ज्ञान होता है, प्लेटो और अरस्तू दोनों को ही मान्य था। यह बात मध्ययुगीन दर्शन में इस प्रकार रखी गयी कि जगत् की सृष्टि से पूर्व जगत् की वस्तुओं के शुद्ध तत्त्व ईश्वर की चेतना में विद्यमान थे या नहीं? इसी प्रकार इसी से मिलती-जुलती एक अन्य समस्या यह थी कि यदि सृष्टि जैसी कोई चीज है तो जो भी सृष्ट है उसकी सत्ता पूर्ण रूप से आकस्मिक है क्योंकि बिना ईश्वर के संकल्प के उसकी सत्ता हो ही नहीं सकती। तो एक प्रकार से वह स्वयं में शून्य मात्र ही है। इसके विपरीत ईश्वर की सत्ता अनिवार्य है क्योंकि वह किसी अन्य पर आश्रित नहीं है। परन्तु कोई भी सत्ता अनिवार्य हो सकती है, इस बात को लेकर मध्ययुग के दर्शन में बहुत चिन्तन हुआ और इस संकलन में इन विशिष्ट प्रश्नों पर कुछ प्रकाश डाला गया है। परन्तु चूँकि यह प्रथम प्रयास है, इसलिए इसमें बहुत-सी न्यूनताएँ रहना स्वाभाविक है। मध्ययुग को तो वह महत्त्व और स्थान इस संग्रह में नहीं मिल पाया, जो उचित था और जो ग्रीक युग को मिला। इसका कारण यही है कि हमारे देश के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इस युग को कोई स्थान नहीं दिया गया और परिणामत: इस युग के दर्शन से परिचित अध्यापक बहुत कम हैं। किन्तु हमें आशा है कि इस संकलन के थोड़े से लेख भी इस युग के बारे में कम से कम कुछ जिज्ञासा हमारे अध्यापकों और विद्यार्थियों में उत्पन्न करेंगे। ❑

पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग : एक विहंगम दृष्टि (डेकार्ट से बर्गसाँ तक)

पश्चिमी दर्शन के इतिहास का आधुनिक युग प्राय: डेकार्ट से प्रारम्भ हुआ समझा जाता है। परन्तु गहराई से देखने पर ऐसा लगेगा कि यह वास्तव में उस नई दृष्टि से प्रारम्भ होता है जिसने ज्ञान को देखने की दिशा में एक नई दृष्टि उत्पन्न की। यह दृष्टि गेलीलियो और बेकन के नाम से सम्बन्धित है। इसने न केवल इन्द्रियानुभूति को ही ज्ञान का आधार माना परन्तु ज्ञान की खोज के लिए एक ऐसी विधि पर ज़ोर दिया जो मनुष्य के किसी विषय के बारे में परिकल्पित ज्ञान को परख सके। इस प्रकार इन्द्रियानुभूति ज्ञान का स्रोत न होकर केवल एक कसौटी ही सिद्ध हुई। वह एक प्रकार का ऐसा न्यायालय थी जिसमें किसी भी विषय के ज्ञान के बारे में विभिन्न मतों के बीच फैसला हो सकता था। केवल तर्क या बुद्धि के सहारे ही ज्ञान की प्राप्ति नहीं की जा सकती। ज्ञान को ज्ञान होने के लिए इन्द्रियानुभव के क्षेत्र में अपने को सिद्ध करना पड़ता है।

दूसरी ओर, पश्चिमी दर्शन के इतिहास में जिसे आधुनिक युग कहते हैं वह पश्चिमी सभ्यता के इतिहास के वैशिष्ट्य से भी सम्बन्धित है और वह यह कि ईसाई धर्म के प्रभुत्व के स्थापित होने के बाद सत्य के बारे में यह निश्चित हो चुका था कि जो कुछ बाइबिल में है, वह ही चरम सत्य है, और उस पर सन्देह करना पाप है। जो स्वयं ईश्वर ने कहा है वह कैसे गलत माना जा सकता है। इस सन्दर्भ में अवश्य डेकार्ट एक प्रकार से आधुनिक युग के प्रतीक हैं, क्योंकि उन्होंने सार्वभौमिक सन्देह-विधि को अपनाया ही नहीं परन्तु उसको वह रूप दिया जो आज सबकी बपौती बन चुका है। उन्होंने यह कह कर आधुनिक युग का श्रीगणेश किया कि जिस किसी पर भी सन्देह किया जा सकता है, उस पर सन्देह करना चाहिए और ज्ञान की भव्य इमारत की आधारशिला केवल ऐसे ही आधार-वाक्यों पर बनाई जा सकती है जिन पर सन्देह किया ही नहीं जा सके और उन्होंने यह भी स्पष्ट किया जैसे ही सन्देह की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तो शायद ही कोई ऐसी चीज़ बची रहती है जिसके विषय में सन्देह किया ही नहीं जा